प्राकृत बोलियों की सार्थकता

☐ डॉ० जगदीशचन्द्र जैन

गरुडपुराण (पूर्व खण्ड, ९८.१७) में कहा गया है।

लोकायतं कुतर्कं च प्राकृतं म्लेच्छभाषितम्।
न श्रोतव्यं द्विजेनैतत् अधो नश्यति तद् द्विजम्॥

लोकायत (=चार्वाक), कुतर्क और म्लेच्छों द्वारा बोली जाने वाली प्राकृत ब्राह्मण को सुनना ठीक नहीं—ये उसे अधोगति को ले जाते हैं।

इस पर से कुछ लोग प्राकृत को म्लेच्छ-भाषित मानकर उसकी गर्हणा करते हैं। लेकिन देखा जाय तो कोई भी भाषा प्रशंसनीय अथवा गर्हणीय नहीं है। भाषाविज्ञान में, भाषाओं के विकासक्रम में, सबका अपना-अपना स्थान निर्धारित है। भाषाविज्ञान की दृष्टि से भारतीय आर्यभाषाओं को तीन भागों में विभक्त किया गया है: पहला युग प्राचीन भारतीय आर्यभाषाओं का है जो ईसा पूर्व २००० से लेकर ईसा पूर्व ६०० या ५०० तक चलता है; दूसरा युग मध्यकालीन आर्यभाषाओं का है जो ईसा पूर्व छठी या पांचवीं शताब्दी से ईसा की १० वीं या ११ वीं शताब्दी तक चलता है; तीसरा युग आधुनिक आर्यभाषाओं का है, जो ईसा की १० वीं या ११ वीं शताब्दी से लेकर आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं तक चलता है।

संस्कृत का आधिपत्य

कहना न होगा कि जब से भारतीय भाषाशास्त्र के असाधारण मनीषी पाणिनि (ईसा पूर्व ५वीं शताब्दी) ने अपनी अष्टाध्यायी के सूत्रों में संस्कृत व्याकरण को समेट कर, भाषा को सुसंस्कृत बनाया तभी से संस्कृत को भारतीय साहित्य में गौरव का स्थान प्राप्त हुआ। कालक्रम से इस भाषा में दर्शन, न्याय, काव्य, व्याकरण, कोश, ज्योतिष, वैद्यक आदि सम्बन्धी साहित्य का निर्माण होने लगा। कालान्तर में संस्कृत इतनी लोकप्रिय हुई कि इसके समक्ष अन्य भाषायें प्रभावहीन प्रतीत होने लगीं। उदाहरण के लिए, ईसवी सन् ९०० के आसपास, नृत्य पर आधारित केवल प्राकृत में लिखे जाने वाले सट्टकों की रचना हुई, किन्तु संस्कृत के प्रभाव के कारण अथवा संस्कृत में रूपान्तरित होने के कारण उनका अस्तित्व ही शेष न रहा। यायावरवंशीय सुप्रसिद्ध राजशेखर ने कर्पूरमंजरी आदि सट्टकों का प्रणयन कर यश का सम्पादन किया। किन्तु उलेखनीय है कि ईसा की नौवीं शताब्दी के आसपास संस्कृत का प्रभाव इतना बढ़ गया था कि राजशेखर को अपने बालरामायण नाटक के प्राकृत अंशों को संस्कृत छाया द्वारा समझाने की चेष्टा करनी पड़ी। उल्लेखनीय है कि वर्त्तमान में भी संस्कृत नाटकों में प्राकृत अंशों की संस्कृत छाया छपी रहती है और संस्कृत के अध्यापक प्रायः उसीके आधार से विद्यार्थियों को प्राकृत का ज्ञान कराते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पाश्चात्य विद्वानों द्वारा प्राकृत का अध्ययन

पाश्चात्य विद्वानों, विशेषकर जर्मन विद्वानों का, हमें ऋणी होना चाहिए जिन्होंने सर्वप्रथम प्राकृत बोलियों का आधुनिक ढंग से वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत किया, खास कर उस युग में जबकि प्राकृत ग्रन्थों की केवल हस्तलिखित पांडुलिपियाँ ही उपलब्ध थीं। इस संबंध में आल ब्रेश्त वेबर, हर्मन याकोबी, हौग, कॉवेल, रिचर्ड पिशल, हॉर्नेल आदि के नामों का उल्लेख किया जा सकता है। सर्वप्रथम आलबर्ट होएफर ने De Prakrita dialecto libri duo (प्राकृत बोलियाँ, दो भागों में, बर्लिन, १८३६) पुस्तक का प्रकाशन किया। लगभग इसी समय १८३७ में क्रिस्तिएन ला स्सेन की Institutiones Linguae Prakriticae रचना प्रकाशित हुई जिसमें प्राकृत बोलियों के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण सामग्री एकत्रित की गई। इस क्षेत्र में आलब्रेश्त वेबर ने महाराष्ट्री, अर्धमागधी और अपभ्रंश बोलियों पर सराहनीय कार्य किया। एडवर्ड म्यूलर ने अर्धमागधी पर कार्य किया। तत्पश्चात् वेबर के प्रतिभाशाली शिष्य याकोबी ने जैन महाराष्ट्री का अध्ययन प्रस्तुत किया। Ausgewete Erzelungen in Maharaṣtri (महाराष्ट्री से चुनी हुई कहानियाँ) में जैन महाराष्ट्री प्राकृत कथाओं का सम्पादन कर उसे भाषाशास्त्रीय टिप्पणियों से सज्जित किया। तत्पश्चात् ई. बी. कॉवेल ने वररुचिकृत प्राकृतप्रकाश को १८५४ में प्रकाशित किया। इसी का द्वितीय संस्करण अंग्रेजी अनुवाद और टिप्पणियों तथा भामह की टीका के साथ १८६८ में प्रकाशित हुआ। कॉवेल महोदय ने १८७५ में वररुचि के प्राकृत-प्रकाश पर आधारित 'ए शॉर्ट इण्ट्रोडक्शन टू द ऑर्डिनरी प्राकृत ऑव द संस्कृत ड्रामाज विद ए लिस्ट ऑव कॉमन इर्रेगुलर प्राकृत वर्ड्स' पुस्तक प्रकाशित की। हौग ने Vergleichurg des Prakrita mit den Romanischen spra cher (रोमन भाषाओं के साथ प्राकृत का तुलनात्मक अध्ययन) नामक पुस्तक का १८६९ में प्रकाशन किया जिसमें प्राकृत तथा स्पैनिश, पोर्चुगीज़ फ्रैंच और इतालवी आदि भाषाओं के रूपों में समान ध्वनि परिवर्तन के नियमों की तुलना की गई। ए. एफ. होएर्नले ने प्राकृत भाषाविज्ञान के सामान्य सर्वेक्षण के इतिहास पर कार्य किया। सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य किया रिचर्ड पिशल ने जिन्होंने अप्रकाशित हस्तलिखित प्राकृत ग्रन्थों के गम्भीर अध्ययन के पश्चात् १८७४ में Grammatik der Prakrit Sprachen (प्राकृत भाषाओं का व्याकरण); सुभद्र झा द्वारा Comparative Grammar of the Prakrat Languages नाम से १९५७ में अंग्रेजी में तथा हेमचन्द जोशी द्वारा 'प्राकृत भाषाओं का व्याकरण'[1] (शीर्षक के अन्तर्गत बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना द्वारा १९५८ में हिन्दी में प्रकाशित) नामक महत्त्वपूर्ण रचना प्रस्तुत की। कहना न होगा कि इस रचना में प्राकृत भाषाओं के स्वरूप-निर्णय के लिए आवश्यक प्राचीनतम जैन आगम और उन पर लिखी गई प्राचीन व्याख्याओं एवं हाल में प्रकाशित जैन कथा-साहित्य आदि से संबंधित महत्त्वपूर्ण रचनाओं को सम्मिलित नहीं किया

---

१. दुर्भाग्य से हिन्दी के इस संस्करण में बहुत-सी अशुद्धियाँ रह गई हैं। अडसठ पन्नों का शुद्धाशुद्धि पत्र अन्त में दिया गया है, फिर भी जैन आगमों के प्रयोगों एवं पाठों की काफी अशुद्धियाँ देखने में आती हैं। देखिये 'ज्ञानांजलि' (पूज्य मुनि श्री पुण्यविजय जी अभिवादन ग्रन्थ, १९६९) में, हिन्दी विभाग के अन्तर्गत मुनि पुण्यविजय जी द्वारा लिखित 'जैन आगमधर और प्राकृत वाङ्मय' पृ० ५८-६१।

धम्मो दीवो
संसार समुद्र में
धर्म ही दीप है

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गया है। ऐसी हालत में प्राकृत भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन करने का आधुनिकतम कार्य अभी बाकी है। इस सूची में लुडविग आल्सडोर्फ का नाम जोड़ देना अनुचित न होगा। उन्होंने संघदासगणि वाचक द्वारा प्राचीन महाराष्ट्री प्राकृत में रचित वसुदेव हिंडि का भाषा शास्त्रीय अध्ययन करने के पश्चात् 'द वसुदेव हिंडि : ए स्पेसीमेन ऑव आर्केक जैन महाराष्ट्री' नामक एक महत्त्वपूर्ण लेख 'बुलेटिन ऑव द स्कूल ऑव ओरिंटियेल स्टडीज़' (जिल्द ८, १९३६) में प्रकाशित किया। इस विद्वत्तापूर्ण लेख में आल्सडोर्फ ने वसुदेव हिंडि में प्रयुक्त भाषा के विलक्षण प्रयोगों को प्राकृतभाषा के विकास के प्राचीनतम स्तर से संबंधित बताया है।[1]

प्राकृत बोलियों की प्रादेशिकता

संघदास गणि क्षमाश्रमणकृत बृहत्कल्पभाष्य में जनपदपरीक्षा-प्रकरण में बताया गया है कि पदचर्या द्वारा देश-देश में विहार करने वाले जैन श्रमणों को चाहिये कि वे विभिन्न देशों में बोली जाने वाली बोलियों में कुशलता प्राप्त करें, ऐसा करने पर ही वे जन सामान्य को अपने धर्मोपदेश द्वारा लाभान्वित कर सकने में समर्थ हो सकते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि महावीर और बुद्ध ने भी ईसा पूर्व छठी शताब्दी में पंडितों द्वारा मान्य शिष्ट संस्कृत भाषा में अपना धर्मोपदेश न देकर, जन-साधारण द्वारा ग्राह्य प्राकृत बोली को ही मान्य किया था। दोनों ही की धार्मिक एवं सामाजिक प्रवृत्तियों का केन्द्र मगध था, अतएव दोनों ने ही मगध में बोली जाने वाली मागधी को अपने-अपने धर्मोपदेश के लिये उपयुक्त स्वीकार किया।

आर्य लोग वेदग्रन्थों को पवित्र निधि मानते थे, अतएव वैदिक ऋचाओं का ठीक-ठीक उच्चारण करना परम आवश्यक था। इन ऋचाओं का यथावस्थित उच्चारण न किये जाने पर—अक्षर, मात्रा, पद और स्वर की कमी रह जाने पर—देवतागणों के अप्रसन्न हो जाने से मन्त्रोच्चारणकर्ता की मनःकामना के अपूर्ण रह जाने का अंदेशा बना रहता था। अतएव वेदसंहिता की मौलिकता की रक्षा के लिये शिक्षा, छन्द, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष और कल्प नामक वेदांगों की रचना की गई, शिक्षा और व्याकरण में उच्चारण की शुद्धता पर जोर दिया गया। उस काल में बड़े-बड़े ऋषियों के मुख से भी मंत्रोच्चारण के अशुद्ध प्रयोग सुनाई पड़ जाते थे। ऐसी हालत में प्रातिशाख्य और व्याकरण के अध्ययन को प्रमुख माना गया। इन्हीं परिस्थितियों में जैसा कहा चुका है कि पाणिनि ने व्याकरण के सूत्रों का निर्माण कर भाषाविज्ञान के क्षेत्र में असाधारण कार्य सम्पन्न किया। उन्होंने अनगढ़ वैदिक भाषा को परिमार्जित एवं संशोधित करके उसे सुव्यवस्थित रूप दिया, और संस्कारित होने के कारण यह भाषा संस्कृत नाम से अभिहित की गई।

प्राकृत के संबंध में यह बात नहीं थी। प्राकृत का व्याकरणसम्मत अर्थ होता है प्रकृतिजन्य, अर्थात् स्वभावसिद्ध, जनसामान्य द्वारा व्यवहार में लाई जाने वाली। ईसा की ११वीं शताब्दी के जैन विद्वान् नमि साधु ने रुद्रट के काव्यालंकार (२.१२) पर टीका करते हुए लिखा है—

१. वसुदेव हिंडि के अध्ययन के लिए देखिये जगदीशचन्द्र जैन 'द वासुदेवहिंडि—ऐन ऑथेण्टिक जैन वर्ज़न ऑव द बृहत्कथा', १९७७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"प्राकृतेति । सकलजगज्जन्तूनां व्याकरणादिभिरनाहितसंस्कारः सहजो वचनव्यापारः प्रकृतिः, तत्र भवं सैव वा प्राकृतम् । वा प्राक् पूर्वकृतं प्राक्कृतं बालमहिलादिसुबोधं सकल-भाषानिबंधनभूतं वचनमुच्यते ।"

—प्राकृत शब्द का अर्थ है व्याकरण आदि के संस्कार से विहीन स्वाभाविक वचन का व्यापार, उससे जो उत्पन्न हो; अथवा वही प्राकृत है....अथवा जो पहले हो उसे प्राकृत कहते हैं, जो बालक, महिला आदि के लिये सुबोध हो, यह समस्त भाषाओं की मूल है ।"

भरत के नाट्यशास्त्र (१८.२) में प्राकृत को भाषा का अपभ्रष्ट रूप कहा है जो संस्कार-गुण से वर्जित है, और जिसे अनेक अवस्थाओं से गुजरना पड़ता है (नानावस्थान्तरात्मक) । इससे भी प्राकृत बोलियों की प्रादेशिकता ध्वनित होती है ।

उल्लेखनीय है कि १२वीं शताब्दी के हेमचन्द्र आदि कतिपय पुरातन विद्वान् प्रकृति का अर्थ प्राकृतिक अथवा स्वभावसिद्ध न मानकर, संस्कृत करते हैं और प्राकृत को संस्कृत से निष्पन्न स्वीकार करते हैं (प्रकृतिः संस्कृतम् । तत्र भवं तत आगतं वा प्राकृतम्, हेमचन्द्र, सिद्धहेमशब्दानुशासन, १.१. की वृत्ति) ।[1]

क्या वैदिक आर्यों की बोली को प्राकृत कहा जा सकता है ?

इस सम्बन्ध में एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न विचारणीय है और वह यह कि वेदों की रचना के पूर्व वैदिक आर्यों की कौन सी बोली थी जिसमें वे अपने विचारों का आदान-प्रदान करते थे ? दुर्भाग्य से इस जन-बोली का स्वरूप निर्धारित करने के हमारे पास साधनों का अभाव है । यद्यपि इस बोली के आधार पर वैदिक संहिताओं की भाषा की रचना की गई, फिर भी जाहिर है कि यह भाषा वैदिक आर्यों की जन-बोली से कुछ भिन्न रही होगी । क्या इस जन-बोली को 'प्राकृत' नाम से अभिहित नहीं किया जा सकता ? (यहाँ 'प्राकृत' का अर्थ वर्त्तमान में उपलब्ध प्राकृत लेना आवश्यक नहीं) । पूर्वकालीन वैदिक युग के सामान्य जनों द्वारा बोली जाने वाली भाषा में भौगोलिक, आर्थिक एवं सामाजिक परिस्थितियों के कारण समय-समय पर अनेक परिवर्तन होते रहे, और अनेक शताब्दियों के पश्चात् जन सामान्य की बोली का जो रूप सामने आया, वह बोली प्राकृत कही जाने लगी । प्राकृत का अर्थ है सामान्य जन की बोली, सहज वचन-व्यापार, जो संस्कृत की भाँति व्याकरण आदि के संस्कार से रहित है, जैसा कहा चुका है । कहा जा सकता है कि संस्कृत का अर्थ यदि वेदपूर्व अथवा वैदिक काल में बोली जाने वाली भाषा किया जाये तो प्राकृत की संस्कृत-निष्पन्नता सिद्ध हो सकती है । इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि वेदकालीन अनगढ़ एवं अपरिमार्जित भाषा को परि-मार्जित और संस्कारित करने के पश्चात् ही शिष्टजनों की भाषा संस्कृत निष्पन्न हुई है, अतएव वेदपूर्व अथवा वैदिक काल की सामान्य बोली को संस्कृत नाम से अभिहित नहीं किया जा सकता । भाषाविज्ञान के विकासक्रम में दोनों का अलग-अलग स्थान है और दोनों का उद्भवस्थान समान होने पर भी दोनों के दो भिन्न-भिन्न पहलू हैं ।

---

१. धनिक, सिंहदेव गणि, नरसिंह, लक्ष्मीधर, वासुदेव, त्रिविक्रम, मार्कण्डेय आदि ने भी यही मान्यता स्वीकार की है, देखिये डॉक्टर के. सी. आचार्य, मार्कण्डेयकृत प्राकृत सर्वस्व की भूमिका, पृ० ३८

धम्मो दीवो संसार समुद्र में धर्म ही दीप है

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस सम्बन्ध में विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि आजकल उपलब्ध प्राकृत भाषा के कितने ही व्याकरण सम्बन्धी रूप एवं शब्द पाणिनि की संस्कृत से सम्बद्ध न होकर वेदों की भाषा के अनुरूप हैं। उदाहरण के लिये :

(क) प्राकृत और वैदिक भाषाओं में अकारान्त प्रथमा विभक्ति के एकवचन में विसर्ग के स्थान पर 'ओ'।

(ख) अकारान्त शब्दों के तृतीया विभक्ति के बहुवचन में 'भिस्'

(ग) अन्तिम व्यंजन का लोप

(घ) चतुर्थी विभक्ति के स्थान पर षष्ठी का प्रयोग

(ङ) पूर्वकालिक क्रिया के साधारण प्रत्यय त्तण (प्राकृत में; वैदिक भाषा में त्वन) का प्रयोग

(च) स्पर्शवर्गीय चतुर्थ अक्षर के स्थान पर महाप्राणीय 'ह' का प्रयोग: धि = हि; गृध = ग्रह्; ग्रभ् = ग्र्ह; घ्नन्ति = हन्ति; अर्ध = अर्ह।

(छ) स्वर के बीच में आने वाले ड़ का ळ में और ढ़ का ल्ह् में परिवर्तन

(ज) प्राकृत में प्रयुक्त कितने ही शब्दों का संस्कृत में प्रयोग

विक्षिप्त (प्राकृत विच्छित्ति से), गोपेन्द्र (गोविन्द), मसृण (मसिण), द्युत् (ज्यु), विकृत (विकट), क्षुद्र (क्षुल्ल), श्रिथिर (शिथिर), विदूषक (विउस अथवा विउसअ), आर्यिका (अज्जुका), मार्ष (मारिस), भद्रं ते (भदन्त) आदि।[1]

ज्ञातव्य है कि सुप्रसिद्ध भाषाविज्ञान के वेत्ता जॉर्ज ग्रियर्सन ने प्राकृत की तीन अवस्थाओं की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है। उनके अनुसार, (क) वैदिक भाषा और उसकी उत्तराधिकारी संस्कृत प्रमुख प्राकृत के साहित्यिक रूप हैं, (ख) गौण प्राकृत में पालि, वैयाकरणों द्वारा उल्लिखित प्राकृतों, संस्कृत नाटकों की प्राकृतों, सामान्यतया साहित्य की प्राकृतों और वैयाकरणों के अपभ्रंशों का समावेश होता है, (ग) प्राकृत की तीसरी अवस्था में आधुनिक आर्यभाषाओं का अन्तर्भाव होता है।

प्राकृत बोलियों की अनेकरूपता

कहा जा चुका है कि भिन्न-भिन्न प्रदेशों में भिन्न-भिन्न रूप से बोली जाने वाली प्राकृत में, संस्कृत की भाँति एकरूपता न आ सकी। इसीलिए पाणिनि की अष्टाध्यायी के स्तर पर उसका सर्वमान्य सर्वांगीण व्याकरण तैयार न किया जा सका। पूर्वीय और पश्चिमी संप्रदायों के वैयाकरणों ने अपने-अपने प्राकृतव्याकरणों की रचना की। इन व्याकरणों में य-श्रुति, ण-प्रयोग, अनुनासिक प्रयोग आदि को लेकर परस्पर विरोधी मतों का विधान किया गया।[2] इसके अतिरिक्ति व्याकरण सम्बन्धी अनेक नियमों के प्रतिपादन के प्रसंग में 'प्रायः', 'बहुल',

---

१. देखिये पिशल, कम्परेटिव ग्रामर ऑव द प्राकृत लैंग्वेजेज (सुभद्र झा), ६, पृ. ४-५; मार्कण्डेय, प्राकृतसर्वस्व, के. सी. आचार्य, भूमिका, पृ. ४६; जगदीशचन्द्र जैन, प्राकृत साहित्य का इतिहास, संशोधित संस्करण, १९८५, पृ. ५

२. देखिये, जगदीशचन्द्र जैन, वही. पृ. १८-१९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'क्वचित्', 'वा' आदि शब्दों के प्रयोग द्वारा प्राकृत बोलियों को अनेकरूपता का ही समर्थन किया गया।[1]

वररुचि (ईसा की लगभग छठी शताब्दी) आदि पूर्वी संप्रदाय के वैयाकरण कितनी ही ऐसी बोलियों और उन बोलियों की चर्चा करते हैं जिनका उल्लेख हेमचन्द्र (१०८८-११७२ ई.) आदि पश्चिमी संप्रदायों की रचनाओं में नहीं मिलता। वररुचि महाराष्ट्री (प्राकृत), पैशाची, मागधी और शौरसेनी की चर्चा करते हैं जब कि हेमचन्द्र इसमें चूलिका पैशाची और अपभ्रंश जोड़ देते हैं। इसके अतिरिक्ति वे आर्षप्राकृत या अर्धमागधी का भी उल्लेख करते हैं किन्तु अपने प्राकृत-व्याकरण (१.३; सिद्धहेमशब्दानुशासन का आठवाँ अध्याय) में उन्होंने कहा कि उनके व्याकरण के समस्त नियम आर्ष प्राकृत के लिए लागू नहीं होते। त्रिविक्रम अपने प्राकृत शब्दानुशासन में, सिंहराज अपने प्राकृत रूपावतार में, लक्ष्मीधर षड्भाषाचन्द्रिका में और अप्पय दीक्षित प्राकृतमणिदीप में हेमचन्द्र का ही अनुकरण करते हैं; अन्तर इतना ही है कि वे आर्ष अथवा अर्धमागधी को शामिल नहीं करते।

प्राकृत-प्रकाश की लोकप्रियता

वररुचि का प्राकृतप्रकाश उपलब्ध व्याकरणों में सर्वप्राचीन जान पड़ता है। इस पर भामह ने मनोरमा, कात्यायन ने प्राकृतमंजरी (पद्यबद्ध टीका), वसंतराज ने प्राकृत-संजीवनी,[2] सदानन्द ने सुबोधिनी और नारायण विद्याविनोद ने प्राकृतपादटीकाओं की रचना की है। केसवहो और उसाणिरुद्ध नामक प्राकृत काव्यों के रचयिता मलाबार के निवासी रामपाणिवाद ने भी इस पर प्राकृतवृत्ति नामक टीका लिखी है। इसके अतिरिक्त, जैसे भट्टि कवि ने अष्टाध्यायी के सूत्रों का स्पष्टीकरण करने हेतु भट्टिकाव्य (रावणवध), और आचार्य हेमचन्द्र ने सिद्धहेमव्याकरण के सूत्रों को समझाने के लिए प्राकृत द्व्याश्रय काव्य की रचना की, उसी प्रकार केरल निवासी कृष्णलीलाशुक ने वररुचिकृत प्राकृतप्रकाश के नियमों का ज्ञान कराने के लिए सिरिचिंधकव्व की रचना की। इससे इस व्याकरण की लोकप्रियता का सहज ही अनुमान किया जा सकता है। प्राकृतप्रकाश के १२ परिच्छेदों में से ९ परिच्छेदों में सामान्य प्राकृत (=महाराष्ट्री) का विवेचन है, १०वें में पैशाची, ११ वें में मागधी और १२ वें में शौरसेनी के लक्षण बताये गये हैं। कात्यायन की प्राकृतमंजरी, वसंतराज की प्राकृतसंजीवनी और सदानन्दकृत सुबोधिनी टीकायें प्राकृतप्रकाश के केवल आरंभ के ९ परिच्छेदों पर हैं, इससे जान पड़ता है कि वररुचि ने केवल सामान्य प्राकृत

---

१. संधिप्रयोगों की बहुलता के सम्बन्ध में वररुचिकृत प्राकृतप्रकाश पर संजीवनी के टीकाकार वसन्तराज ने निम्न श्लोक उद्धृत किया है—

क्वचित् प्रवृत्तिः क्वचिदप्रवृत्तिः
क्वचिद् विभाषा क्वचिदन्यदेव।
विधेर्विधानं बहुधा समीक्ष्य
चतुर्विधं बाहुलकं वदन्ति॥

—आचार्य श्री बलदेव उपाध्याय, प्राकृतप्रकाश, १९७२; ४.१, पृ. ७३

२. यह टीका सर्वप्रथम आचार्य श्री बलदेव उपाध्याय द्वारा सरस्वती भवन सीरीज, बनारस से दो खण्डों में १९२७ में प्रकाशित; द्वितीय परिवर्धित संस्करण १९७२ में प्रकाशित।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महाराष्ट्री प्राकृत को ही मान्य लिया था जो उस समय की स्टैण्डर्ड साहित्यिक प्राकृत समझी जाती थी। क्रमश: पैशाची और मागधी का विवेचन करने वाले १० वाँ और ११ वाँ अध्याय संभवत: भामह अथवा किसी अज्ञात वैयाकरण द्वारा बाद में जोड़ा गया। ज्ञातव्य है कि शौरसेनी के लक्षण प्रतिपादित करने वाले १२ वें परिच्छेद पर स्वयं भामह की भी टीका नहीं है।[1]

प्राकृत बोलियों संबंधी मतभेद

पूर्वीय और पश्चिमी संप्रदायों के वैयाकरणों में परस्पर कितने ही मतभेद हैं जिससे भिन्न-भिन्न क्षेत्र एवं भिन्न-भिन्न काल को लेकर परिवर्तनशील प्राकृत बोलियों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित होता है। सबसे पहला मतभेद तो धातु अथवा शब्द संबंधी गणों को लेकर ही है; दोनों ही संप्रदायों ने भिन्न-भिन्न गण स्वीकार किये हैं। पैशाची, मागधी, अर्धमागधी, शौरसेनी और महाराष्ट्री बोलियों संबंधी मतभेद भी कम नहीं हैं। वररुचि ने प्राकृतप्रकाश में शौरसेनी को **पैशाची** का आधार माना है। मार्कण्डेय ने प्राकृतसर्वस्व में ११ पिशाच देशों को गिनाया है। उन्होंने कैकय, शौरसेन और पांचाल नाम की तीन पैशाची बोलियों का उल्लेख किया है। राम शर्मा तर्कवागीश ने इनमें गौड़, मागध और व्राचड पैशाची को सम्मिलित कर दिया है। पश्चिमी संप्रदाय के वैयाकरणों में इस प्रकार का वर्गीकरण देखने में नहीं आता। पैशाची प्राकृत की कोई स्वतंत्र रचना भी उपलब्ध नहीं है; गुणाढ्य की बड्डकहा (बृहत्कथा) नष्ट हो गई है। अर्धमागधी, शौरसेनी, महाराष्ट्री और पैशाची की भाँति **मागधी** में स्वतंत्र रचनाओं का अभाव है। संस्कृत नाटकों में ही इसके प्रयोग मिलते हैं। वररुचि और हेमचन्द्र ने मागधी के कतिपय नियमों का विवेचन कर शेष नियमों को शौरसेनी पर से समझ लेने का आदेश दिया है। मार्कण्डेय ने शौरसेनी को मागधी की प्रकृति बताया है। **अर्धमागधी** प्राकृत के संबंध में ऊपर कहा जा चुका है। यह श्वेताम्बर जैन आगम-ग्रंथों की भाषा है। जैसे संस्कृत को गीर्वाण (देव) भाषा कहा जाता है वैसे ही अर्धमागधी को आर्षवचन अथवा देववाणी कहा गया है। आर्षभाषा होने के कारण इसकी स्वतंत्र उत्पत्ति मानी गई है जिसके लिये व्याकरण के नियमों की आवश्यकता नहीं पड़ती। क्रमदीश्वर ने अर्धमागधी को महाराष्ट्री और मागधी का मिश्रण कहा है। मार्कण्डेय ने मागधी के लक्षणों का विवेचन करने के पश्चात् शौरसेनी के समीप होने से मागधी को ही अर्धमागधी बताया है। श्वेताम्बर जैन ग्रंथों की अर्धमागधी के लोकभाषा होने के कारण उसमें क्षेत्र एवं काल के अनुसार समय-समय पर परिवर्तन होते रहे जिससे उसमें मागधी, शौरसेनी और महाराष्ट्री के प्रयोग भी शामिल कर लिये गये। ज्ञातव्य है कि जैसे बौद्ध आगम ग्रंथों की मागधी नाट्य-शास्त्र एवं प्राकृत व्याकरणों में निर्दिष्ट मागधी से भिन्न है, उसी प्रकार श्वेताम्बर जैन ग्रंथों की अर्धमागधी नाट्यशास्त्र एवं प्राकृत व्याकरणों में निर्दिष्ट अर्धमागधी से भिन्न मानी गई है। **शौरसेनी** दिगंबरीय आगम ग्रंथों की भाषा रही है। ध्वनितत्त्व की दृष्टि से यह बोली मध्यभारतीय आर्यभाषा के विकास में संक्रमण काल की अवस्था मानी गई है, इसके बाद महाराष्ट्री आती है। भरत ने नाट्यशास्त्र में बोलियों का वर्गीकरण करते हुए शौरसेनी का

---

१. देखिये दिनेशचन्द्र सरकार, ग्रामर ऑव दी प्राकृत लैंग्वेज, १९४३, पृ० ३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उल्लेख किया है, महाराष्ट्री का उल्लेख यहाँ नहीं मिलता। अश्वघोष, भास, शूद्रक, कालिदास, विशाखदत्त आदि संस्कृत-नाटककारों की रचनाओं में शौरसेनी के प्रयोग पाये जाते हैं। वररुचि ने प्राकृत-प्रकाश में संस्कृत को शौरसेनी का आधार माना है। संस्कृत द्वारा प्रभावित होने के कारण शौरसेनी में प्राचीन कृत्रिम रूपों की बहुलता पाई जाती है। ईसा की छठी शताब्दी के अलंकारशास्त्र के विद्वान् दण्डी ने अपने काव्यादर्श (१.३४) में महाराष्ट्र में बोली जाने वाली **महाराष्ट्री** को उत्तम प्राकृत कहा है, जो सूक्ति रूपी रत्नों का सागर है। ध्वनि-परिवर्तन की दृष्टि से यह प्राकृत अत्यन्त समृद्ध मानो गई है।[1] हाल की गाहासत्तसई की रचना इसी प्राकृत में की गई है। इस प्राकृत का सर्वाधिक प्रयोग प्रगीतों में किया गया है। आगे चलकर महाराष्ट्री इतनी लोकप्रिय हुई कि इसे सामान्य प्राकृत के नाम से कहा जाने लगा। वररुचि ने अपने प्राकृतप्रकाश में सामान्य प्राकृत महाराष्ट्री का ही विवेचन किया है। गाहासत्तसई और गउडवहो जैसी रचनायें महाराष्ट्री प्राकृत में लिखी गई हैं, फिर भी इन रचनाओं के कर्ताओं ने अपनी भाषा को प्राकृत नाम ही दिया है। संस्कृत नाटकों में महाराष्ट्री के प्रयोग देखने में आते हैं। कालान्तर में जब महाराष्ट्री और शौरसेनी ने साहित्यिक रूप लिया तो इन बोलियों के शाश्वत निर्धारित नियमों के अभाव में, एक प्राकृत के नियम दूसरी प्राकृत के लिये लागू किये जाने लगे। पुरुषोत्तम ने अपने प्राकृतानुशासन (११.१) में महाराष्ट्री और शौरसेनी का ऐक्य स्थापित कर इस कथन का समर्थन किया है।[1]

—२८ शिवाजी पार्क
बम्बई—२८

□□

---

१. विस्तार के लिये देखिये, जगदीशचन्द्र जैन, वही, पृ० २६-४३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org